भारतीय राजनीतिक प्रणाली में चुनावी फैसले की सीमाएं

□ डॉ० रजनी कोठारी

हाल ही के कुछ समय में प्रधानमंत्री ने एक वर्ष पूर्व भारी बहुमत से चुनी गई सरकार के लिए, एक बढ़ती हुई चुनौती के विषय में गम्भीर चिन्ता व्यक्त की है।

स्वतंत्रता दिवस पर 'सूर्य' पत्रिका को दिये गये संदेश में उन्होंने कुछ विरोधी गुटों पर यह आरोप लगाया कि वे ऐसी परिस्थितियां पैदा करने का प्रयास कर रहे हैं जो जनता द्वारा किए गए इस फैसले को उलट दें, यू० एन० आई० की एक रिपोर्ट के अनुसार २ अगस्त की केबिनेट मंत्रियों तथा अपनी पार्टी के मुख्यमंत्रियों की एक अनौपचारिका बैठक में श्रीमती गांधी ने पार्टी में व्याप्त गुट स्पर्धा के खिलाफ़ उन्हें सजग कराया और बताया कि किस प्रकार अति भारी शासनादेश मिलने पर भी जनता पार्टी को आंतरिक झगड़ों के कारण अपयश कमाकर सरकार छोड़नी पड़ी। उन्होंने कहा कि जनता पार्टी का यह शोचनीय लेखा-जोखा इस संदर्भ में इन्दिरा कांग्रेस के लिए एक चेतावनी होनी चाहिए। १५ अगस्त को लाल किले से दिये गए अपने भाषण में उन्होंने विरोधी दलों से झगड़े का रास्ता छोड़कर अपनी सरकार से सहयोग करने का अनुरोध किया।

यह वक्तव्य जनता पार्टी के नेताओं के उन वक्तव्यों की, जब उनके सामने श्रीमती गांधी की चुनौती थी, तथा श्रीमती गांधी के स्वयं के उन वक्तव्यों की याद दिलाते हैं जब वे सोचती थीं कि जयप्रकाश नारायण उनकी वैधानिक ढंग से बनी सरकार के विरुद्ध जनता को उकसा रहे थे।

इस प्रकार के वक्तव्य निराश राजनीतिज्ञों की

निरर्थक उछल-कूद नहीं है। सत्य तो यह है कि पिछले कुछ वर्षों से चुनावों में विजय सत्ता में जमे रहने के लिए एक अपर्याप्त आधार सिद्ध होती रही है, तथा वैधानिक ढंग से गठित सरकारों को यह चुनौती केवल विरोधी दलों की ओर से ही नहीं, बल्कि जनता के उन बड़े समूहों की ओर से भी दी जा रही है जो अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होकर असन्तुष्ट तथा बैचेन हो गये हैं।

इसके कारण हैं : निर्लिप्त बहाव, असंतोष तथा राजनीति की बदली हुई खाईयों के एक दौर के बाद हुए पिछले तीन प्रभावशाली चुनावों में मतदाताओं ने निश्चयात्मक ढंग से हस्तक्षेप। उसने पुराने सत्ताधारी गुटों को निकाल फेंका, जैसे सिंडीकेट को १९७१ में, श्रीमती गांधी की सरकार को १९७७ में, और जनता सरकार को १९८०, में। तथा नयी सरकारों को स्पष्ट एवं ठोस बहुमत प्रदान किया। जनता द्वारा किये गए ये स्पष्ट फैसले "गरीबी हटाओ", "स्वतत्रता के साथ रोटी दिलाओ" तथा "काम करनेवाली सरकार को लाओ" जैसे आह्वानों से प्रेरित थे। किन्तु नतीजा कुछ नाटकीय कानून एवं संवैधानिक संशोधन करने तथा कानूनी तू-तू, मैं-मैं के अलावा और कुछ नहीं निकला। जागृत मतदाताओं के लिए यह विडम्बना सत्य बनकर भौचनिय ढंग से उनके सामने आयी कि वे एक अकर्मण्य एवं अलोकप्रिय सरकार को हटा तो सकते हैं, किन्तु उनके पास निश्चयात्मक ढंग से यह मालूम करने का कोई उपाय नहीं है कि जो नयी सरकार वे बना रहें हैं वह आशातीत काम करेगी।

एक प्रभावशाली सरकार बना पाने में चुनावी फैसलों की असफलता के साथ-साथ चुनी हुई सरकारों को ऐसी स्थिति में एक और गम्भीर समस्या का सामना करना पड़ता है, और यह है उनकी वैद्यता में भारी अवनति। यह जहां आंशिक रूप से उनकी अकर्मण्यता का परिणाम है वहीं उससे मुक्त भी है। यह मुख्यतः एक ओर चुनाव आधारित एवं पार्टी राजनीति में बढ़ते हुए असाहचर्य(असम्बन्ध) का, तो दूसरी ओर सरकारी प्रक्रिया का फल है। जनता के लिए अब भी पार्टी प्रमुख है। 'सरकार' उसकी नजरों में एक विशेष शक्तिशाली गुट का साकार रूप है और चुनाव पुराने समीकरणों को हटाकर नये समीकरणों को स्थापित करने का अवसर मात्र है। सत्ताधारी गुट के लिए पार्टी केवल वोट पाने का साधन तथा जनप्रिय अपील करने का एक मंच है। एक बार सरकार में जम जाने के उपरान्त यह सत्ताधारी गुट पार्टी को दूसरे चुनाव आने तक भुलाये रखता है। फलस्वरूप प्रत्यक्ष बोध (ज्ञान, अवगम)और सहज बुद्धि (विवेक, समझ) के बीच दरार बनती है जो सरकार की चुनी गई अवधि के लिए की गई वचनबद्धता में टांच लगाती है। जिसके कारण जनता को वह फैसला जिसकी ओर प्रधानमंत्री ने संकेत किया था अर्थहीन बन जाता है। ऐसा १९७१ में हुआ, १९७७ में हुआ और दिखता है १९८० में भी यही होगा।

इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण तत्व भी सक्रिय है। यह प्रणाली प्रतिभाशाली व वचनबद्ध लोगों को, जिन के पास एक आधुनिक राज्य चलाने का आवश्यक ज्ञान एवं प्रतिभा है, सत्ता की अथवा कम-से-कम उन व्यक्तियों को जो ऐसे प्रतिभाशाली लोगों को अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा कर उनसे काम ले सकें, आगे लाकर सत्ता की कुर्सियों पर बैठाने में अक्षम होती जा रही है। प्रजातांत्रिक रूप से काम करने में पार्टी का महत्व एक मुख्य प्रकरण के रूप में घटता जा रहा है। विविध क्षमता एवं ज्ञान की पृष्ठभूमि वाले लोगों की पार्टी के कार्यालयों तथा नीति निर्धारण मंचों पर उपस्थिति ने इस प्रणाली को एक सर्वमान्य प्रभुत्व सम्पन्न विशेष विशिष्ठजन समुदाय को जन्म देने में असफल बनाया है। इसी प्रकार संघात्मक ढांचे तथा स्थानीय प्रकरणों का कमजोर होना यह प्रकट करता है कि विभिन्न परिस्थितियों के बारे में ज्ञान की गहराई व पूरी समझ-बूझ के साथ महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं लिए जाते हैं।

उत्तरोत्तर रूप में जो लोग उच्चतम स्थानों के लिए चुने जा रहे हैं उन्हें निम्न स्तरों अथवा दूसरे प्रतिष्ठानों का कोई पूर्व अनुभव नहीं होता। प्रजातांत्रिक विविधा का केवल एक चुनाव खेल में परणित हो जाने से यह प्रणाली उनके लिए सुभेद्य हो गई है, जिनका सत्ता के लिए एक मात्र दावा ऊँचे लोगों में सहज पहुँच, स्थानीय अथवा पारिवारिक सम्बन्ध या धन है। ऐसे राजनीतिज्ञ पनप रहे हैं जो किसी और की सम्मोहन शक्ति पर एवं जनता की तात्कालिक चिन्ताओं से फायदा उठाकर, एक बार चुनाव जीतने के उपरान्त गुटों की जोड़तोड़ में निरंतर सांठ-गांठ बैठाकर ऊपर उठने में माहिर हैं। किन्तु उनका यही कौशल उन्हें जनता की भलाई की समस्याएँ सुलझाने तथा व्यापक रूप से आदर एवं विश्वसनीयता प्राप्त कराने में

असमर्थता प्रदान करता है ।

सत्य तो यह है कि चुनाव कर्मण्यता, वैद्यता अथवा एक समर्थ प्रतिक्रिया शील विशिष्ट वर्ग की उपलब्धि के लिए एक अपूर्ण आधार है । वैसे यह आवश्यक तो है, किन्तु नाकाफ़ी भी । यदि चुनावी प्रजातंत्र पर आधारित यह राजनीतिक प्रणाली पहले काम चला सकी तो इसलिए कि संस्थागत व्यवस्थाओं के बड़े सातत्यक को तथा विभिन्न स्तरों पर कार्यरत सहभागिता उत्पादक (संचारक) एवं निर्णय लेनेवाले एक भव्य ढांचे को उत्प्रेरक इंजन की तरह काम करने की शक्ति प्रदान करती थी । संसदीय विचार विमर्श, पार्टी में एवं परस्पर पार्टियों में प्रजातंत्र का चलन, संघात्मक राज्यशासन, उत्तरदायी नौकरशाही को विभिन्न सरकारी स्तरों पर एक महत्वपूर्ण स्थान, योजना बनाने एवं सलाह-मशविरा करने का एक अपेक्षाकृत स्वतंत्र संगठन तथा सरकार में और सरकार से बाहर मध्यवर्ती संस्थाओं का एक बड़ा जाल, इन सबने मिलकर भारतीय प्रणाली को एक कारगर ढांचा प्रदान किया था ।

सातवें दशक में इन सब संस्थानिक (संस्थागत) पर-कोटों का क्रमशः पतन हुआ है तथा देश एक अत्यधिक केन्द्रित उपकरण की ओर अग्रसर हुआ । जिसमें प्रथम, पार्टी का स्थान नौकरशाही ने ग्रहण किया और उसके उप-रान्त एक व्यक्तिगत दरबार ने इसके स्थानीय एवं क्षेत्रीय परिपाटी की जड़ें खोदी । साथ ही स्थानीय संकीर्ण माँगों के कारण केन्द्रीय सरकार के स्वयं के स्वायत्तता को धक्का लगा । इन संकीर्ण मांगों ने अब एकत्र होकर ऊपर उठना प्रारम्भ किया और वहां उच्चतम विशिष्ठ वर्ग को इस प्रकार जकड़ा कि वह सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के सुलझाने की अपेक्षा आपसी निरंतर युद्ध में उलझ पड़े । जानकारी के आदान-प्रदान में बढ़ती दरारों ने निम्न स्तरों पर कार्यरत शक्तियों के प्रति संवेदनशीलता समाप्त की । जीवन के हर पहलू और स्तर पर इस प्रकार पैदा हुए रिक्त स्थान को, ख़ासतौर से राजनीति तथा उसके लिए धन उपलब्ध कराने के क्षेत्र में, अब धीरे-धीरे स्वार्थी तत्वों तथा काले धन के खिलाड़ियों ने भरना प्रारम्भ किया । एक बार ऐसा हो जाने पर केन्द्रीय सर-कार ने भारत की विशाल महाद्वीपी राज्य-व्यवस्था की सामाजिक, जातीय एवं क्षेत्रीय विभिन्नताओं का सामना करने में तथा कुछ समय पश्चात इन विभिन्नताओं को एक साथ रखने में भी अपने को असमर्थ पाया । क्योंकि यह राज्य-व्यवस्था अब नयी अभिलाषाओं, असहमति के नये आंदोलनों, तथा संघर्ष और विद्रोह के दृष्टालेखों से विलोड़ित थी । जल्द ही यह सरकार अपने प्रभुत्व सत्ता को दी गई किसी भी चुनौती का, यहां तक कि बदमाशों, अपराधियों तथा विभिन्न प्रकार के षडयन्त्रकारियों की चुनौती का, भी सामना करने में अपने को अक्षम पायेगी ।

राजनीति की रंगभूमि पर प्रभुत्त्व की अवनति के ये प्रमाण एक ऐसी चीज के प्रतीक हैं, जो कहीं ज्यादा मुकामी (स्थानीय)है, जैसे कि राज्य तथा समाज के आपसी सम्बन्धों का बढ़ता हुआ, यद्यपि अब तक अपूर्ण विघटन एवं विवेक तथा व्यवस्था का ह्रास जिनके कारण अब तक एक प्रकार का सामाजिक अनुबन्ध-सा रचा हुआ था, इन सम्बन्धों के लिए हमारी प्रजातांत्रिक प्रणाली अति आवश्यक रही है । जिसके द्वारा अतिविविधतापूर्ण तथा संघर्षयुक्त हमारे समाज के ताने-बानों का एकीकरण सम्भव हो सका है ।

चुनावी प्रणाली की मुख्य भूमिका ऐसी उत्प्रेरक शक्ति के रूप में होती है जो एक संस्थापक ढांचों की परिवर्त-शील समाज की आवश्यकताओं तथा हितों के अनुसार ढालती है । इस प्रणाली को पुनः इस मुख्य भूमिका सहित अपने यथार्थ रूप में स्थापित करने की आवश्यकता है । वे लोग जो चुनावों को सरकार के स्थायित्व को गड़बड़ा देने के असुविधाजनक हस्तक्षेप मात्र समझते हैं, ऐसी चीज की वकालत करते हैं जो वास्तव में बहुत ही हानिकारक है । इसी प्रकार जब एक बार संस्थागत ढांचा ढीला पड़ जाता है । और सरकार व जनता के बहुस्तरीय सम्बन्धों के आलो-चनात्मक अंदरुनी अंगों की मध्यस्थता करने की भूमिका फीकी पड जाती है तो चुनाव किसी ख़ास शक्ति गुट के समर्थन अथवा विरोध में होनेवाले एक अस्थायी जनमत के रूप में विकृत हो जाते हैं । उस समय बीच के ढांचे ढह जाते हैं । शासकों तथा शासितों के बीच एक सीधा, बेढंगा (अनाकार)सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और एक उत्तरोतर बढती संकीर्ण; छलयोजित प्रणाली का उदय होता है । ऐसी स्थिति में कुछ भी निषेध नहीं होता । किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि एक बार जब आप मध्य ढांचों को हटा देते हैं और प्रणाली की ओर ले जानेवाली राहों को बन्द कर देते हैं तो आप स्वयं सुरक्षित नहीं रह सकते। □